श्रीरतनलाल संघवी न्यायतीर्थ,

भारतीय दर्शनों में आत्मवाद

(१) ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

भारतीय-विचार-जगत् के दार्शनिक क्षेत्र में सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् 'आत्मा' के सम्बन्ध में उत्सुकता-श्रद्धा एवं विचारात्मक अनुसंधान चला आ रहा है. आर्यावर्त्त में अब तक अनेक तीर्थंकर ऋषि-मुनि, तत्त्व-चिंतक, संन्यासी, ईश्वर-भक्त, संत एवं मनीषा-निधि दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चारित्र-संपन्न लोक-सेवक, नानाविध भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रगूढ़ समस्याओं का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मंथन में अनुरक्त रहे हैं कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड में मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

यह दृश्यमान और अदृश्यमान अर्थात् प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रीति से विलोक्यमान लोक किन-किन वस्तुओं का बना हुआ है ? ऐतिहासिक और श्रद्धामय दोनों दृष्टियों से विचार किया जाय तो विदित होता है कि जब से मानव-जाति सुसंस्कृत हुई है और जब से इसमें विचार-शक्ति तथा मानव-समाज रचने की दृष्टि उत्पन्न हुई है, तभी से चेतना गुण वाले तत्त्व में आत्मा के सम्बन्ध में ऊहापोह प्रारम्भ हो गया है तदनुसार अब तक यही अनुभव हुआ है कि इस अखिल विश्व में दो तत्त्वों की ही मुख्यता है, जिनके आधार से इस विश्व का विस्तार है.

इस प्रकार श्रद्धा-दृष्टि से आत्मवाद की विचारणा प्रथम तीर्थंकर प्रभु श्रीऋषभदेव से मानी जा सकती है और ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग दस हजार वर्ष से कुछ अधिक काल से, मेधा-संपन्न दार्शनिकों के मस्तिष्क में यह समस्या उत्पन्न हुई कि 'अनुभूति अथवा ज्ञान-शक्ति,' एक विशिष्ट तत्त्व है जो कि ज्ञान-शून्य पदार्थों से अर्थात् पुद्गल तत्त्वसे सर्वथा ही भिन्न है. अनुभूतिशक्तिसंपन्न तत्त्व के गुण, धर्म और पर्याय सर्वथा मौलिक, स्वतन्त्र, अनुपम, विलक्षण और असाधारण हैं, जब कि अनुभूतिशून्य तत्त्व, इससे सर्वथा विपरीत गुणों वाला है. इसी चिंतन ने भारतीय साहित्यक्षेत्र में अपना एक स्वतन्त्र विचार-विभाग प्रस्तुत किया जो कि दार्शनिक विचार-क्षेत्र कहलाया.

इस प्रकार से उत्पन्न हुई यह दार्शनिक विचारणा की धारा शनैः शनैः विभिन्न कोटि के चिन्तकों के मस्तिष्क में प्रवाहित होने लगी और परिणाम स्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएँ तथा अपूर्व-अपूर्व कल्पनाएँ इस अनुभूतिमय तत्त्व के संबंध में उपस्थित होने लगी.

आज से लगभग पांच हजार वर्ष से कुछ समय पहिले यह विचारधारा मुख्यतः दो क्षेत्रों में विभाजित हो गई. एक धारा मुख्यतः वेद-ऋचाओं के निर्माताओं और तत्संबंधी संप्रदाय के विचारकों द्वारा प्रवाहित हुई, जो कि नैयायिक, सांख्य आदि नामों से वैदिक दार्शनिक रूप में प्रस्फुटित हुई. दूसरी भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित विचारधारा इन के समकालीन अथवा इनसे कुछ पूर्वकालीन आध्यात्मिक महापुरुषों द्वारा प्रवाहित हुई. यह विचारधारा श्रमण दार्शनिक-विचारणा कही जा सकती है. यों प्रज्ञाशील पुरुषों के मानस में मीमांसापूर्वक प्रगति करता हुआ यह आत्मवाद-विचारणा का सिद्धान्त लगभग चार-पांच हजार वर्षों के पूर्व काल से आज दिन तक बराबर अखण्ड रूप से चिन्तन-मनन के रूप में अनुसंधान का विषय रहा है.

अब तक इस विषय में हजारों ग्रन्थ लिखे गये, लाखों महापुरुषों द्वारा इसकी व्याख्या की गई और करोड़ों आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा एकांत में, ध्यानावस्था में, इस विलक्षण तत्त्व का चिन्तन मनन किया गया है.

जहाँ तक अनुभूतिमय तत्त्व अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, सभी दार्शनिकों ने इसका अस्तित्व निःसंकोच रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से स्वीकार किया है परन्तु उसके स्वरूप और नित्यत्व आदि के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रही हैं. कोई उसे परमाणु रूप मानता है, कोई विश्व-व्यापी स्वरूप वाला मानता है, कोई संकोच-विस्तारमय प्रदेशों वाला मानता, तो कोई उसे ईश्वरीय रूप वाला मानता है. कोई नित्य कहता है तो कोई अनित्य ही बतलाता है. इस तत्त्व की अन्तिम दशा मुक्त रूप कही गई है परन्तु मोक्ष के स्वरूप के संबंध में भी विभिन्न मत हैं. कोई उसे अनन्तकालीन कहते हैं तो कोई परिमितकालीन बतलाते हैं. बौद्ध-दर्शन तो इस विषय में अवक्तव्य जैसी स्थिति में है और दृष्टान्त रूप में "दीप-निर्वाणवत्" कह कर छुटकारा पा लेता है.

इन विविध दार्शनिक विवेचनाओं में भाषा-भेद, प्ररूपणा-भेद, कल्पना-भेद और व्याख्या-भेद के होते हुए भी आत्मा के प्रति किसी को अस्वीकृति नहीं है. इससे प्रमाणित होता है कि प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार करते है·

जब एक बार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया तो इसके बाद में उत्पन्न होने वाले जन्म, मरण, पाप, पुण्य, वासना, संस्कार, मलीनता, पुनीतता, अर्धविमलत्व, पूर्ण विमलत्व, अज्ञानत्व, ज्ञानत्व, अमरत्व, ईश्वरत्व आदि के विषय में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों की भी विवेचना की गई. इनका अपनी-अपनी शैली से तथा अपनी-अपनी भाषा-पद्धति से समाधान किया गया और भारतीय दर्शन-क्षेत्र में समुच्चय रूप से यह एक पूर्ण सत्य स्थापित किया गया कि आत्मा अवश्यमेव है तथा अपरिमित शक्ति-संपन्न एवं अचिन्त्य स्वरूप वाले ईश्वर तत्त्व से इसका घनिष्ठ संबंध है. इस घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में भी मुख्यतः दो विचार धाराएँ प्रस्तुत हुई हैं. नैयायिक वैशेषिक दर्शन आत्मा तथा ईश्वर दोनों को पृथक्-पृथक् मानते हैं, जब कि वेदान्त एवं सांख्य आदि प्रमुख संप्रदाय आत्म-तत्त्व में काल्पनिक भिन्नता बतलाते हुए मूलतः दोनों को एक ही तत्त्व बतलाते हैं.

बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व के सम्बन्ध में विशेष उलझने की आवश्यता नहीं बतलाता हुआ भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, यद्यपि पश्चात्वर्ती सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् नागार्जुन तथा दिङ्नागादि आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक 'शून्यता' जैसी कल्पताएँ करते हुए पाये जाते हैं फिर भी प्रच्छन्न रूप से आत्मतत्त्व की स्वीकारोक्ति उनमें भी प्रतीत होती है.

बौद्ध तार्किकों में सर्व-प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए. इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है. ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे. इन्होंने 'माध्यमिक-कारीका' नामक तर्क का प्रौढ़ एवं गम्भीर ग्रन्थ बनाया और बौद्ध-साहित्य का मूल आधार "शून्यवाद" निर्धारित किया. इसके आधार पर शेष भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का तथा तर्कों का प्रबल खण्डन किया. दिङ्नागादि पश्चात्-तार्किकों ने इस विषक को विशेषरूप से आगे बढ़ाया और भारतीय तर्क-शास्त्र सम्बन्धी गहन साहित्य का गूढ़तम और गम्भीरतम रूप प्रस्तुत किया.

जैनदर्शन में आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है और आत्मतत्त्व की पूर्ण विकसित अवस्था को ही ईश्वरत्व माना गया है. ईश्वरत्व-प्राप्ति के बाद आत्मा पूर्ण रूप से कृतकृत्य तथा विमलतम स्थिति वाला हो जाने से जन्म-मरण आदि रूप भौतिक हस्तक्षेप से एवं तज्जनित विविध संसारचक्र रूप घट-माल से सर्वथा और सदैव के लिये परि-मुक्त हो जाता है.

जीव तत्त्व को यह सांसारिक अवस्था कब और कैसे प्राप्त हुई ? इसका उत्तर यही है कि यह समस्या अनादि कालीन है और इसलिये इसका उत्तर यही हो सकता है कि सांसारिक अवस्था प्रत्यक्ष रूप से मलीन दिखाई दे रही है, इसको पवित्र बनाने का ही विचार करो और यह मत पूछो कि यह आत्मा क्यों और कब से तथा कैसे मलीन हुई है ?

मूल स्वरूप में सभी आत्माएँ अरूपी हैं, अजर हैं, ऊँच-नीच अवस्थाओं से रहित हैं और सभी प्रकार के लेपों से रहित हैं. जैन-शास्त्रों में आत्मतत्त्व का लक्षण उपयोगमय, ज्ञानमय अथवा अनुभूतिमय कहा गया है, जड़-तत्त्व में ज्ञान, अनुभव, उपयोग और विवेक जैसी शक्ति का सर्वथा अभाव है. यह अन्तर ही इन दोनों का असाधारण लक्षण है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक सांसारिक आत्मा में यह सहजात आत्म-धर्म-रूप शक्ति विद्यमान है कि वह अपने मूल सात्विक गुणों के बल से सांसारिक अवस्था का उच्छेद करके 'ब्रह्म-ज्योति' के रूप में अखण्ड, अगोचर, सर्वगुणसंपन्न और सर्वशक्तिमान परमात्मा के रूप में परिणत हो सकता है.

जैन-दर्शन का विधान है कि प्रत्येक आत्मा में ईश्वरत्व मौजूद है, केवल उसके विकास करने की आवश्यकता है. अपने में स्थित मूल गुणों का विकास करने में, किसी भी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है.

इस प्रकार जैन-दर्शन की 'आत्म-तत्त्व' के संबंध में यह मौलिक विचारधारा है, जो कि अपने आप में विलक्षण स्वरूप वाली होती हुई परिपूर्ण रूप से सत्यमय एवं श्रद्धेय स्वरूप वाली है.

(४) आत्म-तत्त्व-मीमांसा

संसारावस्था में अवस्थित आत्मतत्त्व के गुणावगुणों की अपेक्षा से जो अनेकानेक श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं, उनका कारण विकृति की न्यूनाधिकता ही है. जिस आत्मा में जितना सात्विक गुणों का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के समीप है और जिसमें जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है.

आज दिन तक अनंतानंत आत्माओं ने अपने-अपने सत्-प्रयत्न द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है और आगे भी करती रहेंगी. ईश्वरत्व-प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएँ पूर्ण-रूपेण कृतकृत्य, 'वीतराग' अक्षय-अनन्त ज्योतिरूप हो जाती हैं, तत्पश्चात् संसार के प्रति इनका किसी भी प्रकार का कोई उत्तरदायित्व शेष नहीं रह जाता है. ये अनन्त-शक्ति के रूप में, परिपूर्ण विमल ज्ञान के रूप में या साक्षात् पूर्ण ईश्वरत्व के रूप में अवस्थित हो जाती हैं.

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि इस प्रकार अनंतानंत आत्माएँ 'ज्योति में ज्योति' के समान ईश्वरत्व-स्वरूप में विससित होकर परमावस्था में सदैव के लिये अवस्थित रहती हैं. इनमें न तो स्थानान्तर ही होता है और न अवस्थांतर ही, ये परस्पर में अबाधित रूप से, अखण्ड-अविनाशी-ज्ञान-ज्योति के रूप में स्थित होती हैं. यही जैन-दर्शन का ईश्वरत्व है.

वेदान्त-दर्शन का ब्रह्मतत्त्व, सांख्य दर्शन का पुरुषतत्त्व और जैन-दर्शन का आत्मतत्त्व लगभग समान हैं. उक्त तीनों दर्शनकारों की आत्मतत्त्व की विवेचन-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती हुई भी सिद्धान्तः समान है. शब्द-भेद और विवेचन-शैली-भेद होने पर तात्पर्य-भेद उतना नहीं है जितना कि ऊपर से दिखलाई पड़ता है. इस प्रकार अर्थ-भेद के अभाव में तीनों दर्शनों का आत्मवाद लगभग एक-सा ही है.

सारांश यह है संपूर्ण विश्व का मूल आधार एवं इसका उपादान कारण केवल दो तत्त्व ही हैं; प्रथम अचेतन तत्त्व और दूसरा चेतन तत्त्व इन्हीं को वेदान्तदर्शन में माया और ब्रह्म कहते हैं, जब कि इन्हीं तत्त्वों का उल्लेख सांख्य दर्शन में प्रकृत्ति एवं पुरुष के नाम से किया गया है.

वेदान्तदर्शन उद्बोधित करता है कि माया तत्त्व के कारण ही ब्रह्म नामक आत्मतत्त्व अपने आपको बँधा हुआ समझता है यदि ब्रह्म तत्त्व अपने स्वरूप को पहचान ले तो तत्काल ही इसकी माया से मुक्ति हो जायगी और यह उसी क्षण ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त हो जायगा. परिपूर्ण ईश्वरतत्त्व में और तत्काल माया से मुक्त आत्मतत्त्व में कोई अन्तर शेष नहीं रह जायगा, क्योंकि वास्तव में माया से परिबद्ध आत्म-तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म ही है एवं यह ब्रह्म भी उस परमज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ही अंश रूप है. विश्व-प्रवृत्ति माया तत्त्व से जनित है, ब्रह्मतत्त्व से नहीं. इस प्रकार स्थूल रूप से वर्णित उपरोक्त ब्रह्मवाद का तथा जैन-दर्शन के आत्मवाद का अन्तिम लक्ष्य एक ही है.

सांख्यदर्शन तत्त्व-चिन्तकों के सम्मुख यह मान्यता प्रस्तुत करता है कि विश्व में केवल दो ही मूलभूत पदार्थ हैं—पुरुष तथा प्रकृति. पुरुषतत्त्व साक्षात् ईश्वर स्वरूप है परन्तु प्रकृति के सान्निध्य से वह अपने आप को बँधा हुआ मान बैठा है. ज्यों ही पुरुषतत्त्व को यह स्फुरणा होती है कि यह सब खेल प्रकृति का है, प्रकृति के साथ पुरुष का कोई लगाव नहीं है, त्यों ही पुरुषतत्त्व परिमुक्त हो जाता है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) आत्म-तत्त्व की मौलिकता

सभी आत्माएँ समान रूप से अनन्त गुणों की भंडार हैं. एक आत्मा में जितने भी गुण हैं, उतने ही तथा वैसे ही गुण शेष सभी आत्माओं में विद्यमान हैं. ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमरता, सात्त्विकता आदि सभी गुण प्रत्येक आत्मा के मूल धर्म हैं. इन गुणों को बाह्य पदार्थ से प्रेरित अथवा जनित नहीं समझना चाहिये, अतएव ये वैभाविक नहीं हैं. ये सभी स्वाभाविक हैं.

इनमें विकास, अविकास, अर्धविकास, विपरित विकास जैसी नानाविध वैभाविक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, परन्तु इन गुणों का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता है, क्योंकि इन गुणों का और आत्मा का परस्पर में अभिन्न संबंध है. इसे शास्त्रीय-भाषा में तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं. जैसे उष्णता और अग्नि, शीतलता और जल किरण और सूर्य, औषधि और उसकी प्रभाव-शक्ति आदि का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है. वैसा ही उपरोक्त सभी गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए.

आत्मा चाहे निगोद, तिर्यंच, नरक आदि अवस्था में रहे, चाहे देवगति या, मनुष्यगति में रहे, अथवा अरिहंत-सिद्ध अवस्था में, इन गुणों का विनाश कभी नहीं होता. इन गुणों की स्थिति सांसारिक अवस्था में अविकसित अथवा अपूर्ण विकसित जैसी होती है, जब कि अरिहंत-सिद्ध अवस्था में ये गुण परिपूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं. संसार-अवस्था में आत्मतत्त्व के मौलिक गुण कर्म से आवृत्त रहते हैं, परिमुक्त-अवस्था में, अनावृत्त हो जाते हैं. सिद्धान्त यह है कि स्वरूप स्वरूपी से कदापि पृथक् अथवा भिन्न नहीं हो सकता है.

गुण, कर्म, वृत्ति और स्वभाव ये पारिभाषिक शब्द आत्मगत पर्यायों की स्थिति का परिचय कराते हैं, अतः इन पर विचार करने की आवश्यकता है.

जैन-दर्शन में आत्मतत्त्व की सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विकास-अवस्था तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय में कही गई है. आध्यात्मिकभाषा में इस स्थिति को अरिहंत-अवस्था कहते हैं और उस अवस्था में उत्पन्न होने वाली सर्वोच्च सात्विक विशेषताएँ ही स्वाभाविक गुण शब्द से व्यक्त की जाती हैं. इन गुणों में अनन्त ज्ञान, दर्शन, निर्मलता, अक्षयता, अनिर्वचनीय आत्मिक आनंद, सरलता, संतोष, निर्लोभता आदि विशेषाओं का अन्तर्भाव है. ये आत्मिक गुण हैं, इनका और आत्मतत्त्व का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है. ये गुण ही आत्मा के धर्म कहलाते हैं.

संसार में परिभ्रमण करते समय इन गुणों एवं धर्मों में जो ह्रास अथवा विकास होता है, उसी को वृत्ति कहते हैं. सांसारिक-अवस्था में वृत्ति का स्थान क्रियात्मक रूप से हृदय और मस्तिष्क माना गया है. आत्म-तत्त्व से प्रेरित मानसिक-शक्ति का प्रभाव शरीर पर होता हुआ भी हृदय एवं मस्तिष्क पर विशेष रूप से जानना चाहिये. मन यद्यपि शरीर-व्यापी ही है परन्तु उसका प्रमुख स्थान हृदय और मस्तिष्क है. मन में जो अच्छे अथवा बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, तथा जो भली एवं बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही 'वृत्ति' संज्ञा दी गई है.

ये वृत्तियाँ मुख्यतः तीन भागों में विभाजित हैं :—(१) सात्विक, (२) राजस और (३) तामस. अच्छी वृत्तियो को या श्रेष्ठ तथा हितावह विचारों को, और उत्तम भावनाओं को 'सात्विक-वृत्तियाँ' कहते हैं.

सर्वोच्च विकास-शील अवस्था में अर्थात् अरिहंत-स्थिति में जो गुण हैं, वे ही संसार-अवस्था में रहते हुए- साधना-काल में, सात्विक-वृत्तियों के नाम से परिलक्षित होते हैं. निष्कर्ष यह है कि संसार-अवस्था में रहते हुए आत्मा के गुण-धर्मों में पर्याय रूप से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट गुण-धारा ही वृत्ति है.

(६) आत्मतत्त्व का संविकास

जब तक अत्मा का दृष्टिकोण बाह्यसुख और पुद्गलों में रहता है अर्थात् जब तक सांसारिकसुख, सांसारिक लालसा, इन्द्रिय-भोग, इन्द्रिय-पोषण ,धनसंग्रह, पद-लालसा और यशोलिप्सा आदि तामस वृत्तियों की ओर आत्मा लगी रहती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तब तक वह अन्तर्मुख नहीं है. इस स्थिति को 'बहिरात्म' स्थिति कहते हैं. इसे मिथ्यात्व-अवस्था भी कहा गया है. इसकी तीन श्रेणियाँ विचार-भेद से कही गई हैं, इनके पारिभाषिक नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान हैं.

इन गुण स्थानों की भी अवान्तर रूप से असंख्यात श्रेणियाँ हैं, क्योंकि इन गुणस्थानों में पाई जाने वाली अनंतानंत आत्माएँ हैं, जिनकी विचार-श्रेणियाँ अथवा अध्यवसायस्थान असंख्यात हैं, तदनुसार उपर्युक्त तीनों गुणस्थानों में भी अवान्तर श्रेणियों की संख्या भी असंख्यात प्रकार की हो सकती है.

अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, एवं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा में बाह्य-भावना के स्थान पर आंतरिक भावना की जागृति होती है, ऐसी आत्माओं की श्रद्धा और रुचि ईश्वर, मोक्ष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर होनी प्रारंभ हो जाती है, सांसारिक भोगों के प्रति उदासीनता हो जाती है, इस स्थिति को 'अन्तरात्मभाव' कहते हैं. यह विकास की सीढी है, आध्यात्मिकता की नींव है इसे ही जैनदर्शन में 'सम्यक्त्व' कहते हैं.

यह स्थिति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थान तक रहती है. इस स्थिति में विभिन्न आत्माओं की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा की विचार-धारा अलग-अलग होती है. आध्यात्मिक-अध्यवसायों की श्रेणियां असंख्यात प्रकार की हैं, तदनुसार चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के अवान्तर भेदों की संख्या भी असंख्यात प्रकार की हैं, परन्तु फिर भी प्रमुख श्रेणियां दो प्रकार की कही गई हैं:—

कुछ आत्माएं ऐसी होती हैं जिनकी विचार-धारा भावुक मात्र होती है. उनकी कषाय-भावनाएं, विषम-वासनाएं, धन-मूढ़ता आदि तामस वृत्तियां मूल से क्षीण नहीं होती हैं, किन्तु वातावरण तथा कुछ बाह्य संयोगों से दब जाती हैं. इनका बीज तथा इनकी विशालता ज्यों की त्यों अव्यक्त रूप में भीतर छिपी रहती है. केवल बाह्य रूप से शांति दिखाई देती है इसे जैन-दर्शन में "उपशम अवस्था" कहा गया है. इस अवस्था के विपरीत जिन आत्माओं में कषाय, वासना, मोह, मूढ़ता आदि तामस तथा राजस वृत्तियां जड़-मूल से क्षीण हो जाती हैं, जिनके पुनः उदय होने की अथवा पुनः विकसित होने की कोई संभावना नहीं रहती है, ऐसी आत्माएँ ही वास्तव में पूर्ण विकास कर सकती हैं. ऐसी स्थिति को जैन-दर्शन में 'क्षय अवस्था' कहा गया है. उपरोक्त दोनों प्रकार की अवस्थाओं के लिये पारिभाषिक संज्ञा क्रम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' तथा 'क्षायिक सम्यक्त्व' है.

क्षायिक सम्यक्त्व का उत्कृष्टतम विकास क्रमशः बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होता है. इस प्रकार अन्तरात्मभाव दो मार्गों से विकास को प्राप्त होता है, एक उपशममार्ग से और दूसरा क्षयमार्ग से. उपशममार्ग से चलने वाली आत्मा अधिक से अधिक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर लौट जाती है. इस प्रकार उपशममार्गी आत्मा बहिरात्म-भाव तथा अन्तरात्म-भाव में ही चक्कर लगाया करती है और आगे नहीं बढ़ पाती है, किन्तु क्षायिक मार्ग-गामी आत्मा अन्तरात्म-भाव द्वारा आगे विकास करती हुई अपने मूल स्वरूप की ओर बढ़ती ही चली जाती है. और 'परमात्म-भाव' को प्राप्त कर लेती है. इस अवस्था को जैन-शास्त्रों में तेरहवाँ तथा चौदहवाँ गुणस्थान कहा गया है. इस अवस्था को प्राप्त आत्मा पूर्ण रूप से 'कृतकृत्य' हो जाता है और सदैव के लिए अपने परमध्येय ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है. जैन-दर्शन में यही 'अरिहंत' अवस्था कहलाती है. यह अवस्था परिपूर्ण परमात्मतत्त्व की या सिद्ध-स्वरूप की ही पूर्ववर्ती पर्याय है. भारनीय दर्शनों के अनुसार इसे ही 'आत्मा की पूर्णता' कहते हैं.

इस प्रकार आत्मा की तीन स्थितियाँ बतलाई गई हैं, (१) बहिरात्म-भाव, (२) अन्तरात्म-भाव और (३) परमात्म-भाव. अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव की ओर बढ़ते-बढ़ते आत्मा को अनेक स्थितियों में से गुजरना पढ़ता है. सबसे प्रथम तो मोह की जो दुर्भेद्य ग्रन्थि है, उसको तोड़ना पड़ता है. इस ग्रंथि को तोड़े विना आगे आत्मा बढ़ ही नहीं सकता है. इसे तोड़ने के लिए महान् आध्यात्मिक प्रयत्न करना पड़ता है. ऐसी आत्मा को हृदय में विकसित तामस एवं राजस वृत्तियों से घोर संघर्ष करना पड़ता है. जबर्दस्त रस्सा-कशी चलती है. इस संघर्ष में अनिष्ट वृत्तियां तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को सांसारिक भोगों की ओर खींचती हैं, इन्द्रियों को तथा मन को ललचाती हैं और सात्विक वृत्तियाँ आत्मा को उच्च भावनाओं की ओर आकर्षित करती हैं. इस संघर्ष में यदि आत्मा निर्बल हुई तो अनिष्ट वृत्तियों की जीत हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है और यदि आत्मा प्रबल हुई तो सात्विक वृत्तियों की विजय होती है. इस प्रकार के उतार-चढ़ाव को आध्यात्मिक-साहित्य में 'वृत्ति-संघर्ष' अथवा 'भावना-युद्ध' कहते हैं.

शैतान वृत्तियों में एवं सात्विक वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष के बाद यदि सात्विक वृत्तियों की जीत हो जाती है तो यह घटना आत्मा के लिये परम सौभाग्य रूप मानी जाती है. इसे जैन-शास्त्रों में अपूर्वकरण संज्ञा दी गई है.

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए जीव के लिये यह प्रथम ही प्रसंग होता है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसका 'अपूर्वकरण' नाम प्रस्थापित किया है.

अपूर्वकरण की स्थिति में अवस्थित आत्मा की भावना प्रशस्त हो जाती है, और जब उसकी प्रगति विकास की ओर ही रहती है तो उस विकासोन्मुख प्रवृत्ति के लिये जैनदर्शन में 'यथा-प्रवृत्ति-करण' नाम प्रदान किया गया है.

जब आत्मा में 'अपूर्वकरण' तथा 'यथाप्रवृत्तिकरण' का उदय हो जाता है, तब आत्मा में रही हुई मोह की गांठ आत्यंतिक रूप से छूट जाती है, शैतान वृत्तियों का नाश हो जाता है. आत्मा की ऐसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति के लिये जैनाचार्यों ने अनिवृत्तिकरण नाम निर्धारित किया है.

ऊपर उल्लिखित अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव तक पहुँचने के लिये किसी उत्तमोत्तम आत्मा को तो बहुत थोड़ा समय लगता है और किसी-किसी आत्मा को बहुत अधिक समय भी लग जाता है.

मोक्षगामी एवं मोक्षगत आत्माओं के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जिनसे विदित होता है कि कोई-कोई भव्य आत्मा तो कुछ घन्टों, महीनों अथवा वर्षों में ही परमात्म-भाव को प्राप्त कर लेते हैं. जब कि अनेक आत्मा संख्यात वर्षों में, असंख्यात वर्षों में अथवा अनंत काल में परमात्म भाव को प्राप्त कर पाते हैं.

गजसुकुमार, मरुदेवी, भरतचक्रवर्ती, एलायचीकुमार, अर्जुनमाली आदि के दृष्टान्त जैन-आगमों में उपलब्ध हैं, जो प्रथम बात का समर्थन करते हैं. द्वितीय बात के समर्थन के लिये ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण देखे जा सकते हैं. इस प्रकार आत्मवाद के विकास के सम्बन्ध में यह एक मननीय एवं चिंतनीय-सुबोध पाठ है.

(७) आत्मवाद का तारतम्य

(१) चार्वाकदर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय में एकमत है. उसके स्वरूप वर्णन में एवं उसकी व्याख्या करने में भाषा-भेद अवश्य पाया जाता है, फिर भी उसके अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं करता.

(२) आत्मा के स्वरूप, प्रदेशों, तथा अमरता तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त की गई विवेचनशैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों का आत्मवाद सम्बन्धी धरातल एक जैसा ही है.

(३) 'आत्मा सांसारिक बंधनों से परिमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है, एवं सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप में इसका संविकास होता है.' इस विषय में भी सभी भारतीय दर्शनों में एकता दिखाई देती है.

(३) ईश्वर-स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों का दृष्टिकोण उलझा हुआ प्रतीत होता है यह अस्पष्ट एवं कल्पनाओं से भरा हुआ है. फिर भी ईश्वर की सत्ता का स्वीकार सभी भारतीय दर्शन करते हैं.

(५) सभी भारतीय दर्शन प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से यह वर्णन अवश्य करते हैं कि अज्ञेय स्वरूप वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर-तत्त्व के साथ आत्म-तत्त्व का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य है. दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होते हुए भी आश्चर्य है कि दोनों का मौलिक स्वरूप समान है.

(६) सभी भारतीय दर्शनों ने आत्म-तत्त्व को चेतनामय, ज्ञानमय, और अनुभूति-शक्ति-संपन्न स्वीकार किया है. इससे निश्चय होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल में एक जैसा ही है.

यह है भारतीय-दर्शनों में आत्मवाद का सुन्दर सिद्धांत. 'सत्, चित् और आनन्द' की प्राप्ति करना ही इसका मूल ध्येय है तथा चिरंतन सत्य का अनुसंधान करते हुए आत्म-तत्त्व का जो 'शिव-स्वरूप' है उसके मधुर संदर्शन करने में ही यह भारतीय दर्शन समूह अपने आप को कृतकृत्य मानता है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org